शोध मंथन Vol. XII No.IV Oct.-Dec. 2021 ISSN: (P) 0976-5255 (e) 2454-339X
Impact Factor 8.354 (SJIF)

मनुष्यता को बचाये रखने की कोशिश

प्राप्तिः 22.09.2021
स्वीकृतः 28.12.2021

रश्मि नरताम
शोध छात्र, हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेलः *rashminartam63@gmail.com*

सारांश

दलित कविता अपनी समस्त संप्रेषणीयता में हमें बताती है, कि हमें अब पूर्वाग्रहों और विकृत मानसिकताओं का त्याग करना चाहिए क्योंकि हमारे हर अच्छे और बुरे निर्णय का असर दुनिया पर पड़ता है। मनुष्य होकर भी आप इंसानियत के पक्ष या विपक्ष में क्या व्यवहार करते है? इस से सामज के निर्माणाधीन भविष्य पर फर्क पड़ता है। सपने देखने का मौका, मर्जी और आजादी हर किसी को बराबरी में मिलना चाहिए। यह कठिन और कठोर होते समय की मांग है। आने वाली नस्लें हर प्रकार की आजादी को हवाओं में महसूस कर सकें इसलिए आज हमारी जिम्मेदारी है, कि हम अपने आप को, अपने बच्चों को ऊँच–नीच, जात–पात, अमीरी गरीबी का अंतर भुलाकर न्याय, समता और बंधुता व सर्वोपरि मनुष्यता, मानवीय–समानता में विश्वास करना सिखाये क्योंकि कभी–कभी परखने की जिम्मेदारी निभाने से पहले विश्वास की साझेदारी ज्यादा जरुरी होती है।

मूल बिन्दु

वर्ण–व्यवस्था, जाति–व्यवस्था, पूंजीवाद, सर्वहारा, बहुजन, हरिजन, अस्पृश्यता कानून, आत्मसम्मान, सामाजिक न्याय, हिंदू कोडबिल, दलित चेतना, मानव–सभ्यता, संविधान।

"सत्य के जन्म से पहले भी सत्य तो सत्य ही था।"

–खलील जिब्रान

दलित कविताओं की अपनी पहचान है, उनकी वास्तविकता। मुख्यधारा के साहित्य की तरह दलित चेतना के साहित्य को किसी आवरण की आवश्यकता नहीं है। भोगा हुआ यथार्थ ही यहाँ संवाद है संचार है और समाज में दलित के सप्रेषण का माध्यम भी है। दलित चेतना की अभिव्यक्ति ही दलित कविता की दाहकता का कारण है। एक आम आदमी के जीवन की तरह दलित व्यक्ति के जीवन की शुरुवात नहीं होती जैसे हम सभी को किसी न किसी सामान्य नाम से पुकारा जाता है उसी प्रकार एक दलित के बच्चे को उसके वास्तविक नाम से सम्बोधन नहीं किया जाता बल्कि उसके जन्म से पहले ही उसका नामकरण समाज द्वारा किया जा चूका होता है–"मैं अनामी हूँ/अपने इस देश में/जहाँ–जहाँ भी रहता हूँ/आदमी मुझे नाम से नहीं/कौम से पहचानता है और/कौम से ही सलूक करता है।"[1] महारिन का बच्चा, नाइन का बच्चा, चमार का बच्चा, चमरौधा, तेलहन, तेली, घिनहा।–"मेरी माँ ने जने सब अछूत ही अछूत/तुम्हारी माँ ने सब बामन ही बामन/कितने ताज्जुब की बात है/जबकि प्रजनन क्रिया एक ही जैसी है/वह दिन कब आयेगा/बामनी नहीं जनेगी बामन/चमारी नहीं जनेगी चमार/भंगिन भी नहीं जनेगी भंगी।"[2]

मनुष्य को मनुष्य के रूप में न स्वीकार कर उसकी जाति के आधार पर अन्य मनुष्यों से तुलना करना कितना विभत्स व्यवहार है। जाति द्वारा यह निर्धारीत करना कि कौन–सा मनुष्य मैला ढ़ोएगा और कौन उन्हें केवल मैला ढ़ोने का आदेश देगा। जबकि सभी मनुष्यों का शरीर एक समान श्वसन तंत्र, पाचन तंत्र, उतक तंत्रों से मिलकर बना होता है। सभी मनुष्य नाक–मुँह से साँस लेते हैं और गुदा द्वार से ही मल त्याग करते हैं। फिर ये कहाँ का न्याय है कि कुछ लोग केवल मल ही उठाये इसी काम से कमायें, खाये, अपना जीवन निर्वाह करें? 'अस्पृश्यता कानून' लागू हुआ हो या फिर 'जाति–उन्मूलन' कानून। किसी भी कानून के पारित भर हो जाने से देश में कितना बदलाव आया है? इसकी गवाही आये दिन की घटनाएं दिया ही करती हैं। चाहे जाति के आधार पर किये गये बलात्कार हो या हत्याए। 'कठुआ', 'हाथरस' कांड में पीड़ित, बच्चियों की बलात्कार के बाद की गई निर्मम हत्याओं की तकलीफ से देश शायद कभी उबर नहीं पायेगा। यह घटनाएं तब की हैं जब कि निर्भया और बेंगलूर की डाक्टर प्रियंका जैसी बेटियाँ, बलात्कारी दरिंदो की बर्बर, पशुवत हिंसा और हत्या का शिकार बन चूकी थी। चाहे वह कोई भी लड़की हो, बेटी हो, महिला हो या वृद्धा हो उसके खिलाफ किया गया किसी भी प्रकार का अपराध या अत्याचार और शोषण कठोर रूप से दंडनीय ही है पर बलात्कार और हत्या जैसे जघन्य अपराध करने वाले अपराधियों के लिए मृत्युदंड से कम कुछ नहीं हो सकता। न्याय का पक्ष सदैव मजबूत और गंभीर ही होना चाहिए। इसीलिए किसी भी प्रकार का अपराध, अन्याय, शोषण, उत्पीडन, दमन, मानव–सभ्यता, मानवीयता, स्वतंत्रता, बंधुता, अभिव्यक्ति इन सब के खिलाफ ही होता है। इन सब अराजकताओं के होने का कारण और उन सभी कारणों का निवारण अनिवार्य है। इसी क्रम में एक मनुष्य को दुसरे मनुष्य से जाति के आधार पर कम आकना प्रताड़ित करना भी अक्षम्य ही है क्योंकि बडे अपराध एकाएक घटित नहीं होते उनके परिपक्व होने और बड़ी घटना का रूप धारण करने में एक निश्चित समय, उनके अनुकूल अवस्थाएँ, उनको पोषित करने वाला वातावरण आदि कारक समान रूप से भागीदार होते हैं।

दलित रसोइये के हाथों का खाना न खाना जबकि 'मध्यान्ह भोजन' योजना के लागू होने से भारत देश की विश्व–भर में अपनी तरीके की बहुत अलग और बेहतर योजना मानकर काफी सराहना की गई है। परन्तु वास्तविकता कुछ और ही है। कई राज्यों में मुख्य रूप से दबंग जातियों की बस्ती में ही दोपहर का भोजन दिया जाता है उदहारण के लिए राजस्थान में 12, तमिलनाडु में 19, आंध प्रदेश में 24।–"मध्यान्ह भोजन योजना तक एक समुदाय के रूप में दलितों की पहुँच के सन्दर्भ में सर्वेक्षण के निष्कर्ष यह संकेत करते हैं की पुरे देश के महत्त्वपूर्ण हिस्से में यह योजना किसी–न–किसी प्रकार के जाति–आधारित बहिष्करण का शिकार हुई है।"[3] अधिकांश घटनाओं से यह पता चला है कि–"दबंग जातियाँ यह महसूस करती हैं कि उन्हें नये सिरे से अपना वर्चस्व साबित करने की आवश्यकता है।"[4] इसके अलावा ऊँची जाती के लोगों के आलावा यदि कोई दलित को मारना–पीटना, अपमानित करना, शासकीय हो चाहे प्राइवेट संस्थान दलित और पिछडा वर्ग के कर्मचारियों को अयोग्य मानते हुए उन्हें जातिसूचक शब्दों से अपमानित करना, उनके साथ भेदभाव पूर्ण व्यवहार करना भले ही इन सब अमानवीय गतिविधियों के खिलाफ संविधान में कानून बना दिए गये हैं पर क्या सभी मनुष्यों को मनुष्य मानने के लिए भी हमें कानून की आवश्यकता है? प्रेम सिंह लिखते हैं–"दलित को मनुष्य नहीं मानने के लिए इस तरह का सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तंत्र रचा गया है कि उसे मनुष्य बनने न दिया जाये। दलित साहित्यकार अपनी आत्मकथा

और दूसरी ज्यादातर रचनाओं में इसी पीड़ा की अभिव्यक्ति करता है। वह इस पीड़ा को पैदा करने और बनाए रखनेवाली संरचनाओं, संस्थाओं, ताकतों का चित्रण और प्रतिरोध दोनों करता है। अपनी निःसहायता, बेबसी और आक्रोश का भी।"[5]

प्रतिभा और परिश्रम का सम्मान निश्चित तौर पर होना चाहिए जो आर्थिक रूप से सबल है उसे वैसी ही सुविधाए मिलनी भी चाहिए परन्तु जाति के आधार पर यह तय करना कि, कोई मनुष्य निम्न कोटि का है इसे किसी भी प्रकार की सुविधाओं को उपभोग करने का अधिकार नहीं है। ऐसा कैसे हो सकता है? हमें यह सोचना चाहिए कि एक मनुष्य होने के बावजूद कोई भी अकारण जब हमें अपमानित करता है, जाति का पता चलते ही एकाएक अगले मनुष्य का हमारे प्रति व्यवहार बदल जाता है, कोई बीमारी ना होने पर भी हमे एक समान बरतनों में खाने की इजाजत न हो तो कैसा लगता है?–"यदि तुम्हें/सरेआम बेइज्जत किया जाये/छिन ली जाये संपत्ति तुम्हारी/धर्म के नाम पर/कहा जाये बनने को देवदासी/तुम्हारी स्त्रियों को/करायी जाये उनसे वेश्यावृत्ति/तब तुम क्या करोगे?/यदि तुम्हें/वोट डालने से रोका जाये/कर दिया जाये लहूलुहान/पीट–पीटकर लोकतंत्र के नाम पर/कदम–कदम पर याद दिलाया जाये जाति का ओछापन/दुर्गन्ध भरा हो जीवन/हाथ में पड़ गये हों छाले/फिर भी कहा जाये/खोदो नदी नाले/तब तुम क्या करोगे? यदि तुम्हें/मरे जानवर को खींचकर/ले जाने के लिये कहा जाये/और कहा जाये ढ़ोने को/पुरे परिवार का मैला/पहनने को दी जाये उतरन/तब तुम क्या करोगे?"[6] इस असंवेदनशील, निर्दयी, अमानवीय समाज में किसी को तब तक फर्क नहीं पड़ता जब तक वह घटना उसकी आपबीती ना हो इसीलिए समानता और जागृति की आवश्यकता कभी मुख्यधारा वर्ग को महसूस नहीं हुई क्योंकि सहिष्णुता, समानता, सम्मान, न्याय, साहस इन सभी गुणों पर तो वैसे भी केवल उच्च वर्ग के लोगो का अधिकार था और आज भी है।

अधिकारी वर्ग अधिकार होते हुए भी भला क्योंकर के अधिकारों की मांग करेगा? जो आभावों में जीता है, जिसका जीवन ही किसी और का उधार है, वह दमित, शोषित, पीड़ित, अधिकार हीन व्यक्ति ही तो अधिकारों की मांग करेगा ना? जातीय–दंशों की अमानवीय विद्रूपता एवं शोषण की विभीषिका को भुगतता दलित क्या करेगा? जब वह जीवन की बुनियादी जरूरतों को पूरा करने की खातिर दिन रात जूझता है पर जरूरते तो दूर रोटी के एक टुकड़ें के लिए अपनी पक्की दावेदारी तक दायर नहीं कर पाता! दो जून की रोटी की जुगाड़ में ही अपना जीवन बसर करता दलित मजदूर पूछने को मजबूर है उसका इस देश में आखिर है क्या? किस चीज को वो अपनी कहे? किस चीज पर वह अपना अधिकार जमाये जबकि–"चूल्हा मिट्टी का/मिट्टी तालाब की/तालाब ठाकुर का/भूख रोटी की/रोटी बाजरे की/बाजरा खेत का/खेत ठाकुर का/बैल ठाकुर का/हल ठाकुर का/हल की मूठ पर हथेली अपनी/फसल ठाकुर की/कुँआ ठाकुर का/पानी ठाकुर का/खेत–खलिहान ठाकुर के/गली–मुहल्ले ठाकुर के/फिर अपना क्या? गाँव? शहर? देश?"[7] सम्मान का सवाल ही कहाँ उठता है जब गले के नीचे उतरते हर कौर का हिसाब रखने को मजबूर दलित किसान, मजदूर रूखे–सूखे खाने के बाद भी चैन की नीद नहीं सो पाता। अगले पहर की रोटी की चिंता और उसके बच्चों के बुझे हुए चेहरे, फटे–उधड़े कपड़ों में से झाकता उनका काला दुर्बल शरीर, कम उम्र में ही पोषण की कमी से त्वचा पर पड़ी झुर्रियाँ, हड्डियों के ढाँचे के नाप का सिकुड़ा हुआ उनका छोटा सा शरीर दलित गरीब माँ बाप को हर पल परिश्रम की अग्नि में झोकता जाता है।–"सुनो ब्राह्मण/हमारे पसीने से/बू आती है तुम्हें/फिर ऐसा करो एक दिन/मेरे बेटे के साथ/अपने बेटे को भेजो/दिहाड़ी

की खोज में/और अपनी बिटिया को/हमारी बिटिया के साथ/भेजो कटाई करने/मुखिया के खेत में/शाम को थक कर/पसर जाओ धरती पर/सूँघो खुद को/बेटे को/बेटी को/तभी जान पाओगे r eq@t hou dh xUk dk s@cy or h gks hgS t k@ng dh xUk l aP[8]

'परिश्रम' यह शब्द गर्मा–गर्म घी से चुपड़े निवाले हलक के नीचे उतारने वालों के लिए बड़ा कठोर पर कीमती शब्द है। दूसरों का हक मार कर बढ़ाई हुई चर्बी को उतारने की कोशिश में 'परिश्रम' यह शब्द जब उच्च वर्ग के या पूंजीपति वर्ग के लोग इस्तेमाल करते हैं तो शायद परिश्रम इस शब्द को भी अपने सही उपयोग और महत्ता का अहंकार हो जाता होगा! वही पूंजीपति वर्ग इस शब्द का इस्तेमाल न केवल अपनी सामाजिक–सम्मान व सामाजिक–सुरक्षा को बढ़ाने में करता है बल्कि उसके द्वरा की गई जमाखोरी, काला बाजारी, बेईमानी, भ्रष्टाचार, अनैतिकता सबको एक ही क्षण में नैतिक बना लेने में बड़ी चतुराई से इस्तेमाल करता है। वही दूसरी ओर परिश्रम की सभी व्याख्याओं को पीछे छोड़ हाड़–तोड़ मेहनत से अधमरा हो चूका दलित–मजदूर, किसान वर्ग अपनी आधी उम्र तो कुपोषण से खो बैठता है बची–खुची उम्र को कोई बीमारी ले डूबती है।

दलित वर्ग में केवल निम्नवर्गीय और गरीबी रेखा के नीचे जीने वालों की ही औसत आयु और बीमारियां होने की दर अधिक नहीं है, बल्कि दलित वर्ग के वह लोग जो अच्छी आय कमाते है वो भी गंभीर बीमारियों के शिकार हैं। हमारे सामने ओमप्रकाश वाल्मीकि, तुलसी राम, सूरजपाल चौहान, नामदेव ढसाल, जैसे लेखकों की गंभीर बीमारियों के उदाहरण हैं। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि, इन सभी लेखकों की यह पहली पीढ़ी थी जिसने शिक्षा ग्रहण की और योग्यता के आधार पर नौकरीयाँ हासिल की जबकि इनका बचपन और युवावस्था तक का जीवन आर्थिक, सामाजिक, मानसिक, शारीरिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक हर प्रकार से शोषित और दमित ही रहा। पीड़ित होने के बावजूद इन्होंने अथक परिश्रम और संघर्षो द्वारा अपना जीवन पटरी पर लाया पर जाति का दंश किस प्रकार आजीवन उनका पीछा करता रहा यह सर्वविदित है। बस हमारा समाज इस सत्य को स्वीकारना नहीं चाहता क्योंकि हर समय में, हर एक दौर में, हर एक अवस्था में, एक वर्ग शोषक की भूमिका में रहता है, रहना चाहता है, यदि परिस्थितियाँ नहीं बदली तो हमेशा ही रहेगा ऐसी आशंका ज्यादा है और दूसरा वह वर्ग जो शोषित है वह शोषित ही 'था', 'है', और आगे भी शोषित ही रहना 'नहीं' चाहता है। परन्तु ऐसा ही, हो यह उसके बस में नहीं है। जातिगत सामजिक बुनावट, राजनैतिक अनैतिकता, अव्यवस्था और स्वार्थ, शोषित–वर्ग को सदैव शोषित ही बनाए रखना चाहते हैं। राजनैतिक पक्ष जाति और धर्म को मुद्दा बनाकर और अधिक लम्बे समय तक सत्ता अपने हाथों में लेकर राज करना चाहते हैं और विपक्ष को तो यह मुद्दे बनाये रखने ही होते हैं ताकि उनका अस्तित्व बना रहे साथ ही उनकी सत्ता में आने की दावेदारी भी मजबूत हो।–"सत्ता तूने बहुजनों को आहात किया कीड़ों सी जिन्दगी पाषाण का दुःख दुर्लभ जीवन तुमने दुरूह किया।"[9] –"वो हमें बाँट देना चाहते हैं/उपजातियों के मिथ्या झंझट में/वाल्मीकि, रैगर, चमार, खटीक/धानुक, कंजर, आदिवासियों में/उनकी बात में न आना/मकसद है उनका हमें लड़ाना।"[10]

संविधान द्वारा अस्पृष्यता का अंत, जातिसूचक नामों से संबोधित करने पर सजा का प्रावधान, शिक्षा और अर्थ की समान उपलब्धता, अपने रीती–रिवाजो के पालन की स्वतंत्रता, धार्मिक स्वतंत्रता, सांस्कृतिक उन्नयन की आजादी, भाषा–बोली अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, आदि को लागू

करके एक समान नियम, सभी नागरिकों के मूलभूत अधिकारों और राष्ट्र के प्रति नागरिकों द्वारा कर्तव्यों के निर्वहन हेतु प्रावधान तैयार किये गये। इन सब के बावजूद एक दलित, मनुष्य होते हुए भी, समाज द्वारा मनुष्य के रूप में स्वीकृत नहीं है और अपने आप से प्रश्न पुछने को मजबूर है! मैं कौन हूँ? उसके अस्तित्व की उपस्थिति, स्वीकृति, उस प्रश्नवाचक स्थिति में है जहाँ हर पल, अपने अस्तित्व पर, उसके सम्मान पर, संदेह उपस्थित होता है। स्वयं के अस्तित्व के प्रति हीनता बोध से ही एक दलित जीवन की शुरुवात होती है जो दलित इस हीनता, पराधीनता, असम्मान, अस्वीकृति, अपराधबोध, कुंठा, तिरस्कार, असहमति, असुरक्षा, भेदभाव, छुआछूत, शोषण, दमन, उत्पीडन, अत्याचार, प्रश्नान्कुलता ग्रसित मानसिकता, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक सभी प्रकार के बहिष्कारों से मुक्ति चाहता है उस दलित का, उसकी चेतना का, उसकी जागृति का, 'साहित्य' है 'दलित–साहित्य'। यही वह साहित्य है जो मनुष्य की 'मुक्ति का साहित्य' है।–"सोचती हूँ/कौन हूँ मैं? मेरा अस्तित्व है क्या? मैं कहाँ से और क्यों आयी हूँ धीरे–धीरे क्या मैं भी खाक हो जाऊँगी/क्या मैं भी चुपचाप/उनके पाँवों की धूल हो जाऊँगी?"[11]

भोगे हुए यथार्थ का साहित्य है दलित साहित्य। इस साहित्य में मुख्यधारा के साहित्य की तरह यह प्रश्न खड़ा नहीं होता है कि अनुभव बड़ा है या यथार्थ? ऐसे बहानो और निरर्थक साँचो की आवश्यकता दलित साहित्य को नहीं है–"दबे, कुचले, उपेक्षित कोटि–कोटि लोग/सहसा तब उनकी याद आ जाती है/भला ऐसे में मेरे लिये/खुशी की कविता लिखने का क्या अर्थ?"[12] कटु जीवन की वास्तविकता इसके लेखन में जो धार पैदा करती है उसी से डर कर ही दलित साहित्य को कभी भाषा के कटघरे में खड़ा किया जाता है। तो कभी आवश्यकता और उपयोगिता के कटघरे में खड़ा किया जाता है। जहाँ दलित साहित्य की भाषा पर आरोप लगाये जाते है, अमानक भाषा के प्रयोग के, अश्लीलता के, कठोरता के, समाज द्वारा अस्वीकार कर दिए जाने के क्योंकि मुख्य धारा के साहित्यकार जानते है सत्य की तुलना किसी कृत्रिम साहस, प्रेम और कल्पना द्वारा नहीं की जा सकती है। अभ्यास से पैदा की गई भाषा कभी जन्मजात 'प्रतिभा' का स्थान नहीं ले सकती वर्ना कबीर को अपना आदर्श बता–बता कर वाहवाही लुटाने वालों को भीड़ क्यों लगती।–"वह कबीर/तुम्हारे लिये हिन्दी साहित्य का सितारा है/हिन्दू पंडितों का प्यारा है/और उसके वंशज जुलाहे–अछूत हैं शूद्र हैं और घृणीय है।"[13] किसी और की तकलीफ का रचनात्मक वर्णन कर अपने आप को साहित्यकार कहलाने का लालच करने वाले, एक दलित के रौंदे गये आत्मसम्मान की तड़प और पीड़ा को कभी बयाँ नहीं कर सकते।

हम क्यों हैं बहुजन? हरिजन? क्यों नहीं है शामिल तुम्हारे आम जनों में? क्यों नहीं कहलाते हम भी केवल 'जन'? समाज और राष्ट्र के मंचो का प्रतिनिधित्व करते नेता और समाज सुधारक उस मंच के नीचे क्या सच में वही मनुष्यता दिखाते है? तो फिर क्यों किसी नेता के लड़के लड़की की शादी में गोलों और तोपों की सलामी दी जाती है और किसी दलित व्यक्ति की घोड़ी पर भी बारात निकालने पर मारपीट और हत्या कर दी जाती है?–"नहीं निकल सकती जिसकी/घोड़ी पर बारात/नहीं बैठ सकता जो आज भी/सवर्णों के सामने खाट पर/साठ साल का बूढा भी/दुध–मुँहे बच्चों तक को/मिमिया कर कहता है 'बाप'।"[14] ग्रामीण भारत की इस सच्चाई से चाहे हम जितना मुँह मोड़ ले पर वास्तविकता को नकार नहीं सकते जो कि आये दिन की अखबारी खबरों के रूप में हमारे सामने मुँह बाये खड़ी होती हैं। जिस तरह अखबार की कीमत और उसका महत्त्व दिन ढलने

के साथ–साथ कम होता जाता है। उसी तरह दलित मनुष्य के जीवन की कीमत भी मुख्यधारा के सामाज के लिए एक बासी खबर की तरह ही है जिसे जरुरत पड़ने पर दोहराया तो जा सकता है पर समाज के वर्तमान में उसकी कोई जगह और जरुरत कभी महसूस नहीं होती।–"इस अपरिचित बस्ती में/घूमते हुए मेरे पाँव थक गये हैं/अफसोस! एक भी छत/सर ढकने को तैयार नहीं/हिन्दू दरवाजा खुलते ही/कौम पूछता है और/नाक भौं सिकोड़/गैर–सा सलूक करता है।"[15] यह सब इसी विद्रूप समाज का सच है। इसी देश का सच है। और इसी जगह के लोगों द्वारा हर दिन भोगा जाता है। अन्याय करने वालों को मानवीयता के सही अर्थ समझाने की जरुरत है साथ ही मनुष्यता को बचाये रखने की कोशिश में यह, हर एक आदमी की भी जिम्मेदारी है।

संदर्भ सूची

1. भारती कँवल, दलित कविता का संघर्ष, स्वराज प्रकाशन 4648/1, अंसारी रोड, दरियागंज नई दिल्ली–110 002, प्रथम संस्करण–2012, पृ. 214
2. भारती कँवल, (संपा.) 'दलित निर्वाचित कविताएं', साहित्य उपक्रम e-mail: sahity_upkram@yahoo-co-in, web: www-sahityaupkram-com, phone: 09654732174/ 09350809192ए प्रथम संस्करण जनवरी–2006, पृ. 66
3. ज्याँ द्रेज़(सपा.), चौबे कमल नयन (सह.सपा), भारतीय नीतियों का सामाजिक पक्ष, वाणी प्रकाशन TATA TRUSTS4695, 21– ए, दरियागंज, नयी दिल्ली–110 002 शाखा पटना, अशोक राजपथ, पटना–800 004, प्रथम संस्करण–2017, पृ. 435
4. वही पृ. 434
5. वाल्मीकि ओमप्रकाश, दलित साहित्य अनुभव, संघर्ष एवं यथार्थ, राधाकृष्ण प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड 7/31, अंसारी मार्ग, दरियागंज नयी दिल्ली–110 002, पहला संस्करण–2013, पृ. 52
6. भारती कँवल, (सपा.) दलित निर्वाचित कविताएं, साहित्य उपक्रम e-mail : sahityupkram@yahoo-co-in, web:www-sahityaupkram-com, phone : 09654732174/ 09350809192, प्रथम संस्करण जनवरी 2006, पृ. 62–61
7. वही पृ. 56
8. वही पृ. 48–49
9. भारती कँवल, दलित कविता का संघर्ष, स्वराज प्रकाशन 4648/1, अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली–110 002, प्रथम संस्करण–2012, पृ. 263
10. वही पृ. 260
11. वही पृ. 261
12. वही पृ. 93
13. वही पृ. 156
14. वही पृ. 225
15. वही पृ. 213